श्वेताश्वेतर उपनिषद् में योग की अवधारणा

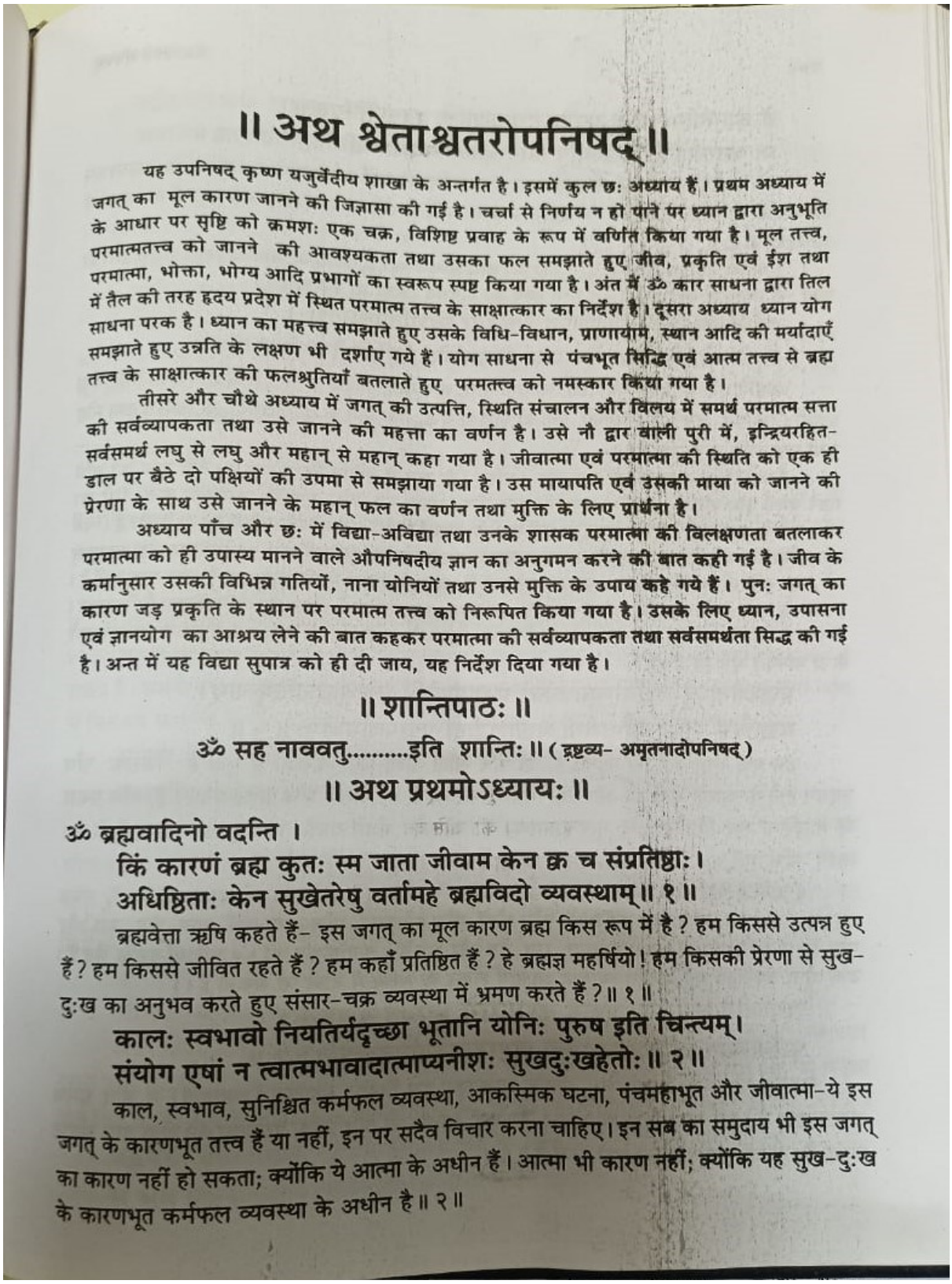

॥ अथ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इसमें कुल छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में जगत् का मूल कारण जानने की जिज्ञासा की गई है। चर्चा से निर्णय न हो पाने पर ध्यान द्वारा अनुभूति के आधार पर सृष्टि को क्रमशः एक चक्र, विशिष्ट प्रवाह के रूप में वर्णित किया गया है। मूल तत्त्व, परमात्मतत्त्व को जानने की आवश्यकता तथा उसका फल समझाते हुए जीव, प्रकृति एवं ईश तथा परमात्मा, भोक्ता, भोग्य आदि प्रभागों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अंत में ॐ कार साधना द्वारा तिल में तैल की तरह हृदय प्रदेश में स्थित परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार का निर्देश है। दूसरा अध्याय ध्यान योग साधना परक है। ध्यान का महत्त्व समझाते हुए उसके विधि-विधान, प्राणायाम, स्थान आदि की मर्यादाएँ समझाते हुए उन्नति के लक्षण भी दर्शाए गये हैं। योग साधना से पंचभूत सिद्धि एवं आत्म तत्त्व से ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार की फलश्रुतियाँ बतलाते हुए परमतत्त्व को नमस्कार किया गया है।

तीसरे और चौथे अध्याय में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति संचालन और विलय में समर्थ परमात्म सत्ता की सर्वव्यापकता तथा उसे जानने की महत्ता का वर्णन है। उसे नौ द्वार वाली पुरी में, इन्द्रियरहित-सर्वसमर्थ लघु से लघु और महान् से महान् कहा गया है। जीवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति को एक ही डाल पर बैठे दो पक्षियों की उपमा से समझाया गया है। उस मायापति एवं उसकी माया को जानने की प्रेरणा के साथ उसे जानने के महान् फल का वर्णन तथा मुक्ति के लिए प्रार्थना है।

अध्याय पाँच और छः में विद्या-अविद्या तथा उनके शासक परमात्मा की विलक्षणता बतलाकर परमात्मा को ही उपास्य मानने वाले औपनिषदीय ज्ञान का अनुगमन करने की बात कही गई है। जीव के कर्मानुसार उसकी विभिन्न गतियों, नाना योनियों तथा उनसे मुक्ति के उपाय कहे गये हैं। पुनः जगत् का कारण जड़ प्रकृति के स्थान पर परमात्म तत्त्व को निरूपित किया गया है। उसके लिए ध्यान, उपासना एवं ज्ञानयोग का आश्रय लेने की बात कहकर परमात्मा की सर्वव्यापकता तथा सर्वसमर्थता सिद्ध की गई है। अन्त में यह विद्या सुपात्र को ही दी जाय, यह निर्देश दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता ऋषि कहते हैं- इस जगत् का मूल कारण ब्रह्म किस रूप में है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? हम किससे जीवित रहते हैं? हम कहाँ प्रतिष्ठित हैं? हे ब्रह्मज्ञ महर्षियो! हम किसकी प्रेरणा से सुख-दुःख का अनुभव करते हुए संसार-चक्र व्यवस्था में भ्रमण करते हैं?॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥ २ ॥

काल, स्वभाव, सुनिश्चित कर्मफल व्यवस्था, आकस्मिक घटना, पंचमहाभूत और जीवात्मा-ये इस जगत् के कारणभूत तत्त्व हैं या नहीं, इन पर सदैव विचार करना चाहिए। इन सब का समुदाय भी इस जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि ये आत्मा के अधीन हैं। आत्मा भी कारण नहीं; क्योंकि यह सुख-दुःख के कारणभूत कर्मफल व्यवस्था के अधीन है॥ २॥

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, *108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड*, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 2010, पृ. 407।

जिस प्रकार अग्नि का उसके आश्रय स्थान काष्ठ में कोई रूप नहीं दिखता और उसके मूल तत्त्व का भी नाश नहीं होता, क्योंकि आगे प्रयत्न करने पर ईंधन रूप अपने आश्रय में उसे (अग्नि को) ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों ॐकार साधना के द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

साधक को अपनी देह को नीचे की अरणि और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन के अभ्यास से (काष्ठ में) गुह्य अग्नि की भाँति परमात्म तत्त्व को देखना चाहिए॥ १४॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्त्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५॥

जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घी, स्रोतों में जल और काष्ठों में अग्नि आदि तत्त्व छिपे रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा अपने अन्तःकरण में ही छिपा हुआ है। जो साधक परमात्मा को सत्य तथा तप के द्वारा मनन पूर्वक देखता है, परमात्मा उसी साधक के द्वारा ग्रहण किया जाता है॥ १५॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति॥ १६॥

साधक दूध में निहित घृत की भाँति आत्मा में स्थित जिस परमात्म तत्त्व को आत्म विद्या और तप के आधार से प्राप्त करता है, वह उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म ही है॥ १६॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ १॥

वह सविता (सबका उत्पादक) देवता हमारे मन तथा बुद्धि को परमात्मा में लगाते हुए हमारी इन्द्रियों को पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठा कर उसमें दिव्य अग्नि का प्रकाश स्थापित करे, ताकि हम जगत् के सार तत्त्व का ही अवलोकन करें॥ १॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या॥ २॥

हम सविता देवता की उपासना के निमित्त यज्ञादि कर्म मनोयोग पूर्वक सम्पन्न करें। इस प्रकार स्वर्गीय आनन्द की प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करें॥ २॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३॥

स्वर्ग तथा आकाश में गमन करने वाले, बृहद् प्रकाश संचरित करने वाले वे सविता देव हमारे मन तथा बुद्धि से (मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता) देवों को संयुक्त करके उन्हें प्रकाश की ओर प्रेरित करें॥३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुःपरिष्टुतिः॥ ४॥

जिसमें सभी ब्राह्मण आदि अपने मन तथा चित्त को लगाते हैं, जिनके निमित्त अग्निहोत्र आदि का विधान किया गया है, जो सभी प्राणियों के विचारों को जानते हैं, उन सवितादेव की हम महती स्तुति करें॥

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, *108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड*, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 2010, पृ. 410।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूराः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

हे मन और बुद्धि! तुम्हारे स्वामी और सबके आदिकारण परब्रह्म परमात्मा से मैं नमस्कार के द्वारा संयुक्त होता हूँ। मेरा श्लोक (स्तुतिकर्म) विद्वान् के यश के समान सर्वत्र फैल जाये। दिव्य लोकों में वास करने वाले सभी अमृतरूप परमात्मा के अंशधर पुत्रगण मेरी बात सुनें॥ ५॥

[मन-बुद्धि विकारों के वशीभूत होकर अकड़े रहते हैं, नमन की प्रक्रिया इष्ट के प्रति समर्थन का अभ्यास है। शुद्ध होकर साधक के मन -बुद्धि जब इष्ट से संयुक्त होते हैं, तो उनकी गति और सामर्थ्य व्यापक हो जाती है। मनः शुद्धि की प्रक्रिया आगे स्पष्ट की गई है।]

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभियुज्यते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥६ ॥

जहाँ अग्नि का मंथन किया जाता है, जहाँ प्राण वायु का विधिवत् निरोध किया जाता है एवं जहाँ सोमरस का प्रखर आनंद प्रकट होता है, वहाँ मन सर्वथा शुद्ध हो जाता है॥ ६ ॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्। तत्र योनिं कृणवसे नहि ते पूर्वमक्षिपत्॥ ७॥

सविता देवता के द्वारा प्रेरित होकर हमें सबके आदि कारण परमात्मा की आराधना करनी चाहिए, (हे साधक!) तुम उसी परमात्मा का आश्रय ग्रहण करो। इससे तुम्हारे पूर्त कर्म (पुण्य कार्य-स्मार्त कर्म) भी बन्धन प्रदायक नहीं होंगे॥ ७॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥ ८॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह सिर, ग्रीवा और वक्षःस्थल इन तीनों को सीधा और स्थिर रखे। वह उसी दृढ़ता के साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों को मानसिक पुरुषार्थ कर अन्तःकरण में सन्निविष्ट करे और ॐकार रूप नौका द्वारा सम्पूर्ण भयावह प्रवाहों से पार हो जाए॥ ८॥

[इन्द्रियों की सारी सुखाकांक्षाएँ अन्तःकरण से ही उपजती हैं। अन्तःकरण में वे समाविष्ट हो जायें, तो सारे इन्द्रिय-सुखों का अनुभव अन्दर ही किया जा सकता है।]

प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥ ९॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि आहार-विहार की सभी क्रियाओं को विधिवत् सम्पन्न करते हुए प्राणायाम की क्रिया करके जब प्राण क्षीण हो, तो उसे नासिका से बाहर निकाल दे। जिस प्रकार सारथि दुष्ट अश्वों से युक्त रथ को अत्यन्त सावधानी से लक्ष्य की ओर ले जाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष इस मन को अत्यन्त जागरूक होकर वश में किये रहे॥ ९॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ १०॥

साधक को चाहिए कि वह समतल और पवित्र भूमि, कंकड़, अग्नि तथा बालू से रहित, जल के आश्रय और शब्द आदि की दृष्टि से मन के अनुकूल, नेत्रों को पीड़ा न देने वाले (तीक्ष्ण आतप से रहित), गुहा आदि आश्रय स्थल में मन को ध्यान के निमित्त अभ्यास में लगाए॥ १०॥

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ ११॥

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, *108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड*, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 2010, पृ. 411।

योग साधना प्रारम्भ करने पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वरूप सर्वप्रथम कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, जुगनू, विद्युत्, स्फटिकमणि, चन्द्रमा आदि बहुत से रूप साधक के समक्ष प्रकट होते हैं॥ ११॥

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ १२॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश- इन पाँचों महाभूतों का सम्यक् उत्थान होने पर इनसे सम्बंधित पाँच योग विषयक गुणों की सिद्धि होने पर जिस साधक को योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो जाता है, उसे न तो रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न ही असामयिक मृत्यु प्राप्त होती है॥ १२॥

[इस मन्त्र में प्रयुक्त 'पृथ्व्याप्यतेजो' शब्द आर्षप्रयोग प्रतीत होता है, अन्यथा इसके स्थान पर 'पृथ्व्यप्तेजो' अधिक उपयुक्त रहता।]

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३॥

शरीर की स्थूलता कम होना, नीरोग होना, विषयों में आसक्ति न होना, शरीर में कान्ति-तेजस्विता होना, स्वर की मधुरता, शुभ गन्ध का होना, मल-मूत्र अल्प होना, ये सब योग की पहली सिद्धि है॥१३॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥ १४॥

जिस प्रकार मिट्टी से मलिन हुआ रत्न या आभूषण शोधित होकर प्रकाशमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके शोकादि से मुक्त होता और अद्वितीय तथा कृतकृत्य हो जाता है॥ १४॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १५॥

जब योग साधना से युक्त साधक दीपक के सदृश आत्मतत्त्व के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, तब वह अजन्मा, निश्चल, सम्पूर्ण तत्त्वों से पवित्र उस परमात्मा को जानकर सम्पूर्ण विकार रूप बन्धनों से मुक्ति पा लेता है॥ १५॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ १६॥

वही एक परमात्मा सम्पूर्ण दिशाओं-अवान्तर दिशाओं में संव्याप्त है, वही सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ था, वही सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में अन्तःस्थित है, वही इस जगत् रूप में उत्पन्न हुआ है और भविष्य में भी उत्पन्न होने वाला है, वही सम्पूर्ण जीवों में स्थित है और सम्पूर्ण पक्षों वाला है॥ १६॥

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ १७॥

जो परमात्मा अग्नि में है, जो जल में है, जो समस्त लोकों में संव्याप्त है, जो ओषधियों तथा वनस्पतियों में है, उस परमात्मा के लिए नमस्कार है॥ १७॥

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, *108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड*, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 2010, प. 412।

इस घोर संसार (भवसागर) में उस अनादि, अनन्त, विश्व सृजेता, अनेक रूपों वाले, सम्पूर्ण विश्व को अकेले ही अपनी सत्ता से आवृत करने वाले (परमात्म) देव को जानकर साधक समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्। कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥

श्रद्धा भाव से प्राप्त होने वाले अशरीरी सृष्टि (भाव) एवं प्रलय (अभाव) करने वाले, कल्याणकारी स्वरूप वाले, कलाओं की रचना करने वाले, उस देव (परमात्मा) को जो साधक जान लेता है, वह शरीर बन्धन (आवागमन चक्र) को त्यागकर मुक्त हो जाता है॥ १४॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा नु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १॥

कुछ विद्वान् मनुष्य के स्वभाव को जन्म चक्र का कारण बताते हैं, दूसरे कुछ लोग काल को इसका कारण बताते हैं, परन्तु ये लोग यथार्थता से बहुत दूर मोहग्रस्त स्थिति में हैं। वास्तव में यह परमात्म देव की ही महिमा है, जिसके द्वारा इस लोक में यह ब्रह्मरूप (सृष्टि) चक्र घुमाया जाता है॥ १॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २॥

जिसके द्वारा यह समस्त जगत् सदैव व्याप्त रहता है, जो ज्ञानस्वरूप, काल का भी काल, सर्वगुणसम्पन्न और सर्वज्ञ है, उसके ही अनुशासन में यह सम्पूर्ण कर्म चक्र घूम रहा है। पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश- इन पञ्च तत्त्वों का चक्र भी उसी के हाथ में है- ऐसा चिन्तन करते रहना चाहिए॥ २॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥ ३॥

उस परमात्मा ने कर्म चक्र चला कर, उसका अवलोकन कर आगे चेतन तत्त्व से जड़ तत्त्व का संयोग कराके जगत् की रचना की, अथवा एक (अविद्या), दो (धर्म और अधर्म), तीन (सत्, रज, तम गुण), आठ (मन, बुद्धि, अहंकार सहित पञ्चतत्त्वों) प्राकृतिक भेदों से तथा काल एवं सूक्ष्म आन्तरिक गुणों (ममता, अहन्ता, इच्छा, आसक्ति आदि) के संयोग से इस जगत् की रचना की॥ ३॥

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ ४॥

जो साधक तीनों गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके उन्हें तथा उनके भावों को परमात्मा को अर्पित कर देता है, (ऐसा करने से) उन कर्मों का अभाव हो जाता है तथा पूर्वकृत कर्मों का भी नाश हो जाता है। ऐसा होने पर जीवात्मा जड़-जगत् से भिन्न सत्ता (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परिस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥ ५॥

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, *108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड*, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 2010, पृ. 421।

वह आदि पुरुष परमात्मा, (प्रकृति का जीव से) संयोग कराने वाले निमित्त के रूप में जाना (देखा) गया है। यह तीनों कालों तथा सोलह कलाओं से परे है। अपने अन्तःकरण में अधिष्ठित उस सर्वरूप और संसार रूप में प्रकट तथा स्तुत्य पुरातन परमात्म देव की उपासना करनी चाहिए॥ ५॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम॥ ६॥

जिससे यह जगत् प्रपञ्च में प्रवृत्त होता है, वह (परमात्मा) जगत् वृक्ष (चक्र), काल तथा आकार से परे तथा उससे भिन्न है। धर्म के विस्तारक, पाप का नाश करने वाले, उस ऐश्वर्य के स्वामी को जानकर साधक आत्मा में स्थित उस विश्वाधार विराट् परमात्मा तथा उसके अमृतस्वरूप को प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ ७॥

ईश्वरों (प्रभुता-सम्पन्नों) के भी परम महेश्वर, देवताओं के परम देव, पतियों (पालकों) के भी परमपति, अव्यक्त (प्रकृति आदि) से भी परे, सम्पूर्ण लोक-ब्रह्माण्ड के अधिपति, स्तुति करने योग्य वह परमात्म देव सबसे परे हैं, (ऐसे) परमात्म देव को हम जानते हैं॥ ७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ ८॥

उस (निराकार परमेश्वर) के शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे बड़ा भी कोई नहीं है, उसकी पराशक्ति (अदृश्य-दिव्य शक्ति) विविध प्रकार की सुनी जाती है और वह स्वभाव जन्य ज्ञान क्रिया (सम्पूर्ण विषयों के ज्ञान की प्रवृत्ति) और बल क्रिया (अपने प्रभाव से सबको अभिभूत करने की शक्ति) वाला है॥ ८॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ ९॥

इस जगत् में कोई उसका स्वामी नहीं है, उसका कोई शासक नहीं है एवं उसका कोई लिंग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) भी नहीं है। वह सबका कारण है और इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवों का अधिपति है। उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न ही कोई अधिपति है॥ ९॥

यस्तूर्णपनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्॥ १०॥

तन्तुओं द्वारा मकड़ी के समान उस एक परमदेव (परमात्मा) ने स्वयं ही अपनी प्रधान शक्ति (प्रकृति) से (उत्पन्न अनन्त कार्यों से) अपने को आवृत कर लिया है। वह परमात्मा हमें अपने ब्रह्मस्वरूप से एकत्व प्रदान करे॥ १०॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ११॥

सम्पूर्ण प्राणियों में वह एक देव (परमात्मा) स्थित है। वह सर्वव्यापक, सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा, सबके कर्मों का अधीश्वर, सब प्राणियों में बसा हुआ (सबके अन्दर विद्यमान), सबका साक्षी, पूर्ण चैतन्य, विशुद्धरूप और निर्गुणरूप है॥ ११॥

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, *108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड*, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 2010, पृ. 422।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

जो अद्वितीय परमात्मा सबका अधीश्वर है, जो बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक रूपों में परिणत कर देता है, उस हृदय गुहा में अवस्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष (अनुभूतिजन्य दृष्टि से) देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं॥ १२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

जो परमेश्वर नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन है और एक अकेला ही सम्पूर्ण प्राणियों को उनके कर्मों का भोग प्रदान करता है, उस सांख्य एवं योग (ज्ञानयोग एवं कर्मयोग) द्वारा अनुभूतिगम्य, सबके कारणरूप देव- परमात्मा को जो साधक जान लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १४॥

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा अथवा तारों का समूह, न ये बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं, तो यह अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है। उस (परमात्मा) के प्रकाशित (विद्यमान) होने से ही (सूर्यादि) सभी प्रकाशित होते हैं। उसके प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित है॥ १४॥

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

इस लोक के मध्य में एक ही हंस (परमात्मा) है, वह जल में सन्निहित अग्नि के समान अगोचर है। उसे जानकर साधक मृत्युरूप बन्धनों को पार कर जाता है। इससे भिन्न मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है॥

[जल की उत्पत्ति अग्नि से होती है (अग्नेरापः) और अग्नि जल में समाविष्ट है 'बड़वानल' के रूप में, यह सिद्धान्त विज्ञान सम्मत है (हाइड्रोजन+ऑक्सीजन+ताप=पानी।)]

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६॥

जो ज्ञानस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का रचयिता, सर्वज्ञ, स्वयं ही जगत् की उत्पत्ति का केन्द्र, काल का भी काल, गुणों का समुच्चय और सर्वविद्यावान् है। वह पुरुष और प्रकृति का प्रमुख अधिपति, सम्पूर्ण गुणों का नियन्ता, संसार चक्र के बन्धन, स्थिति और मुक्ति का कारण है॥ १६॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय॥ १७॥

वह तन्मय (विश्वरूप अथवा सर्वप्रकाशक परमात्मा), अमृतस्वरूप ईश्वर (नियामक) रूप में स्थित, ज्ञानसम्पन्न, सर्वगत (सबमें चैतन्य रूप से स्थित) और इस लोक का रक्षक है, (वही) इस सम्पूर्ण जगत् का सर्वदा नियामक है; क्योंकि इस जगत् का नियन्त्रण करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है॥ १७॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ १८॥

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, *108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड*, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 2010, पृ. 423।

जो परमात्मा सर्वप्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उन्हें वेदों का ज्ञान प्रदान करता है। मैं मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से बुद्धि को प्रकाशित करने वाले उन देव की शरण ग्रहण करता हूँ॥ १८॥

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ १९॥

जो कलाओं तथा क्रियाओं से रहित, सदा शान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृतत्व का श्रेष्ठ सेतुरूप, (धूम्ररहित) प्रदीप्त अग्नि के समान देदीप्यमान है (हम उसकी शरण ग्रहण करते हैं)॥ १९॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ २०॥

जब मनुष्यगण आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे (जब कि यह असम्भव है); तब उस देव (परमात्मा) को जाने बिना भी दुःखों का अन्त हो सकेगा (यह भी असम्भव है)॥ २०॥

[वस्तुतः दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति परमतत्त्व को जानकर ही हो सकती है।]

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्॥ २१॥

श्वेताश्वतर ऋषि ने तप के प्रभाव से और परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जाना तथा ऋषियों द्वारा सेवित उस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्व का उन्होंने आश्रम के सुपात्रों को उपदेश दिया॥ २१॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ २२॥

उपनिषदों (वेदान्त) में इस परम गुह्य ब्रह्मविद्या का पूर्वकल्प में उपदेश किया गया था। जिसका अन्तःकरण रागादि से शान्त न हुआ हो, उस साधक को तथा जो अपना पुत्र या शिष्य न हो (अर्थात् आचार्य के प्रति श्रद्धाभाव न रखता हो), उसे यह गुह्य ज्ञान नहीं देना चाहिए॥ २२॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता
ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति॥ २३॥

जिस साधक की परमात्मा में अत्यन्त भक्ति है तथा जैसी परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में भी है, उस महान् आत्मा के हृदय में ही ये बतायें गये गूढ़ ज्ञान प्रकाशित होते हैं, ऐसे महात्मा में ही (यह उपनिषद्) ज्ञान प्रकाशित होते हैं॥ २३॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति। शान्तिः॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषत्समाप्ता॥

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, *108 उपनिषद् ज्ञानखण्ड*, युगनिर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि, मथुरा, 2010, पृ. 424।